संपादकीय

सत्यांश

आकलित अनुमान, अप्रत्याशित नतीजे

सोलहवीं लोकसभा के लिए हुए आम चुनाव में भारतीय जनता पार्टी द्वारा अपने दम पर पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लेना साधारण घटना नहीं है। इस चुनाव-परिणाम में संयुक्त जनतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) ने 336 सीटें हासिल करके एक मजबूत सरकार की नींव तैयार की है। एनडीए और उसमें भी भाजपा के पक्ष में सभी पूर्वानुमानों से काफी बेहतर परिणाम आया, क्योंकि उम्मीद व अनुमान आकलित, अपेक्षित एवं व्यावहारिक ही ठीक लगते हैं, जबकि नतीजे अनपेक्षित, अप्रत्याशित तथा अकल्पनीय भी होते हैं। और तो और, ये 'अव्यावहारिक' भी होते हैं। रिजल्ट जब अच्छे-बुरे अथवा सकारात्मक-नकारात्मक ध्रुवों की हद तक जाते हैं, तब किसी के पक्ष में भी आशातीत होते हैं और किसी के खिलाफ भी सीमातीत। इनका अंदाज लगाना आसान नहीं होता। बहरहाल, इस बार का चुनाव-परिणाम 'एक्जिट पोल' के विपरीत न जाकर पूर्वानुमानों की सापेक्षता में थोड़ा अधिक व जल्दी आगे बढ़ा है। ऐसी संभावना तो पहले से दिखाई दे ही रही थी कि भ्रष्टाचार के नित-नये कारनामे, महँगाई की बेतहाशा वृद्धि और आंतरिक-बाह्य असुरक्षा के प्रति अचेत अकर्मण्य, पर अहंकारग्रस्त मनमोहन सरकार की विदाई का मानस-फलक दिनोंदिन विस्तृत होता जा रहा है, जो सोनिया गाँधी के केन्द्रीय मार्गदर्शन और राहुल-प्रियंका के 'आकर्षक' व्यक्तित्व के किसी करिश्मे से बच नहीं सकता या कम-से-कम ताकतवर तो नहीं हो सकता। ऐसे में यदि कांग्रेस सरकार सत्ता से बाहर न होती तो आश्चर्यजनक होता। महानगरों से लेकर सुदूर गाँवों तक में जघन्य अपराधों-व्यभिचारों में भारी वृद्धि एवं अन्य कारणों से राजसत्ता के प्रति लोगों के मन में आक्रोश बढ़ गया था। इसके लिए चाहे केन्द्रीय सत्ता सीधे जिम्मेदार कम रही हो, तब भी 'यथा राजा तथा प्रजा' के भाव में जीने वाले यह जानते-मानते हैं कि राजनीतिक सत्ता के दूषित होने के कारण ही निचले स्तर तक यह सब व्याप्त होता है। कुत्सित राजनीति, कुशासन, निकम्मेपन से आदर्शपूर्ण सभ्य समाज निर्मित नहीं हो सकता। इस भाव-विचार को जनमानस में आत्मसात कराने में अनेक विशिष्ट जनों व संगठनों के साथ अन्ना हजारे, स्वामी रामदेव एवं आम आदमी पार्टी के कार्यक्रमों व प्रचार-प्रसार का भी योगदान रहा। फिर भी कांग्रेस के खिलाफ बना वातावरण भाजपा के पक्ष में ही इतना आगे तक कैसे चला गया, यह विचारणीय है। कांग्रेस के बाद भाजपा सबसे बड़ी राष्ट्रीय पार्टी थी और वह पहले भी अन्य दलों के सहयोग से केन्द्र में सरकार चला चुकी है। इसके बावजूद, केवल कांग्रेस के विरुद्ध बने वातावरण से भाजपा को इतनी बड़ी जीत नहीं मिल सकती, जहाँ मुलायम सिंह यादव और उनकी समाजवादी पार्टी, मायावती और उनकी बहुजन समाज पार्टी तथा शरद यादव-नीतीश कुमार और उनका जनता दल (यू) चारों खाने चित्त हो जाएँ। यह सही है कि मुलायम सिंह और मायावती आपसी वैमनस्य की राजनीति के बावजूद मनमोहन सरकार के खेवनहार रहे। बाहर सरकार का विरोध करते रहे और संकट के समय संसद में बचाते भी रहे। यह दुमुँहापन लंबे अरसे तक चलने के कारण सबकी समझ में आ गया था। नीतीश कुमार भी एनडीए से अलग होने के बाद कांग्रेस के समीप गए, लेकिन इन सबकी चुनावी पराजय में कांग्रेस का हाथ तथा साथ ही मुख्य कारण नहीं है। दूसरी ओर, उड़ीसा में नवीन पटनायक, पश्चिम बंगाल में ममता बनर्जी और तमिलनाडु में जयललिता ने न अपने विरोध में कोई लहर उत्पन्न होने दी और न कांग्रेस के विरुद्ध पनपी लहर को भाजपा के पक्ष में तब्दील होने दिया, बल्कि अपनी स्थिति पहले से अधिक मजबूत की।

फिलहाल, इस आम चुनाव में भाजपा की शानदार विजय के साथ स्पष्ट बहुमत मिलने के पीछे की उसकी अपनी सबलताओं को दृष्टिगत रखना उचित है। पार्टी ने आडवाणी-जोशी की जीर्ण-शीर्ण कार्य-रूढ़ि का चोला उतार कर अपेक्षाकृत, गंभीर, आक्रामक व होशियार होने के साथ-साथ अनुभवी नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में एकजुटता से चुनाव लड़ा। प्रचार-प्रबंधन द्वारा नरेन्द्र मोदी को लोकप्रिय बनाकर इसे भुनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। नरेन्द्र मोदी ने भी पूरे चुनाव को स्वयं पर केन्द्रित बना दिया। तीन-चार दलों वाले एनडीए के कुनबे को बढ़ाकर चुनाव के दरम्यान उनतीस दलों के गठजोड़ तक ले जाना सफल रणनीति रही। इससे भाजपा व सहयोगी दलों को सीटों का तो लाभ हुआ ही, उनका स्वतंत्र वजूद भी पुख्ता हुआ। इस एकजुटता के आगे विरोधी कमजोर सिद्ध हुए। भाजपा को वहाँ भी सीटें मिलीं, जहाँ सहयोगी के अभाव में मुश्किल होती।

लंबे समय बाद एक दल को पूर्ण बहुमत मिलने के कारण चुनाव परिणाम जहाँ सुकून देता है, वहीं चुनाव के दौरान के राजनीतिक घटना-क्रम बेचैनी उत्पन्न करते हैं। चुनाव के माध्यम से सरकार गठित करने की पद्धति-मात्र लोकतंत्र नहीं है और यह चुनाव भी अपने में कम पेंचदगीपूर्ण नहीं है। लेकिन अभी चुनावी त्रुटि के पचड़े में पड़ने की बजाय इसी चुनाव द्वारा संचालित भारतीय लोकतंत्र को देखना जरूरी है कि क्या वर्तमान स्थिति में लोकतंत्र मजबूत है और इस लोकतंत्र में भारत महान् होगा? इस चुनाव में जैसे रिकॉर्ड का मतदान हुआ, वैसे ही रिकॉर्ड का दल-बदल भी हुआ। दल-बदल अधिकतर सत्ता से सर्वाधिक निकट लगने वाली पार्टी भारतीय जनता पार्टी की तरफ हुआ। यह व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए अवसरवादिता की मिसाल है, सैद्धांतिक प्रतिबद्धता और राजनीतिक वफादारी की जहाँ कोई कीमत नहीं। दल-बदल करने वाले नेताओं ने बड़ी संख्या में चुनाव जीता है। इसी तरह वंशवादी राजनीति को सभी दलों ने इस बार भी आगे बढ़ाया है। नेताओं के पुत्रों, पुत्रियों, पत्नियों, बहुओं, दामादों आदि को टिकट देने के लिए सभी दलों में होड़ रही, कसौटी सिर्फ 'जिताऊ' होना मानी गई। यह भी अजब आश्चर्य है कि उत्तर प्रदेश में जो पाँच सीटें समाजवादी पार्टी को मिली हैं, वे मुलायम सिंह यादव के परिवार को ही मिली हैं। इनमें वे खुद दो जगह से, बहू डिम्पल और भतीजे अक्षय व धर्मेन्द्र सफल हुए हैं। क्या इससे यह संदेश जाता है कि समाजवादी पार्टी को अधिक सीटें मिलतीं यदि पार्टी प्रमुख के अन्य परिजन भी खड़े होते? अनेक नेताओं के परिजन व रिश्तेदार चुनाव जीतने में सफल रहे हैं, लेकिन ऐसे प्रत्याशियों के जीतने से लोकतांत्रिक राजनीति व्यापक लोक और आमजन से कटकर कुछएक राजनीतिक परिवारों के खास लोगों तक ही सिमट कर रह

जाती है। पागल, दिवालिया, सजाप्राप्त अपराधियों के सिवा सभी वयस्कों को चुनाव लड़ने का अधिकार है, परन्तु निचले स्तर के निर्धन, पर सक्षम लोगों के लिए व्यावहारिक कठिनाइयाँ अधिक होती हैं। राजतंत्रीय व्यवस्था के अवशेष ढो रहे राज परिवारों के सदस्य चुनावों में जीत हासिल कर लोकतांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत अपना रुतबा बरकरार रखने में सफल होते हैं। इनके लिए लोकतंत्र का मतलब लोकतांत्रिक चुनाव द्वारा अपनी राजशाही का नया भविष्य कायम रखना होता है। उद्योगपतियों, फिल्मी हस्तियों, खिलाड़ियों, नौकरशाहों में से अधिकतर लोकसेवा करने के दावे की आड़ में राजनीति में आकर अपने हितों के संरक्षण में जुट जाते हैं, पार्टियाँ भी इनकी पूँजी व लोकप्रियता के अनुभव से अपने पक्ष में हवा बनाने से नहीं चूकतीं। आकर्षक छवि के असंगत दोहन व पूँजी के बल पर ये लोग अनजाने क्षेत्र से भी चुनाव में सफल होते हैं, लेकिन क्षेत्र के बाहर या भीतर के ऐसे उम्मीदवार काम के मामले में प्राय: फिसड्डी साबित होते हैं। चुनाव जीतने पर जहाँ तत्काल सीटों में वृद्धि कराते हैं, वहीं कहीं हारने से पहले चुनावी मुकाबले को रोचक बनाए रखते हैं।

इस बार चुनाव में पूँजी का खेल भी जबरदस्त हुआ है। पूँजी का इस्तेमाल चुनावी प्रचार-प्रसार के लिए सबसे अधिक होता है। इसके कारण मुद्दों-सिद्धांतों से परे जनता के चेतन-अचेतन मन-मस्तिष्क में ऐसे 'उत्पाद' को परोसा जाता है, जिसमें हर मर्ज की दवा होने की ललक दर्शायी जाती है। प्रचार-प्रसार सही दिशा में भी हो सकता है और गलत दिशाओं में भी, पर यह वास्तविक बिल्कुल नहीं होता। यह काल्पनिक होता है, सपने बेचता है, इसलिए जमीनी धरातल पर साकार नहीं हो पाता। इसके माध्यम से कोरी भावुकता का व्यक्तिकेन्द्रित अभियान चलता है। व्यक्ति को ब्रांड के रूप में पेश किया जाता है। खर्च-सीमा बढ़ जाने के बाद भी चुनाव के दौरान बहुत-सारी अवैध रकम जगह-जगह पकड़ी गई। नेताओं के ऊल-जलूल बयान सामने आए, हल्के-सतही अलोकतांत्रिक व गैरचुनावी बयानों को चाहे तात्कालिक रूप से नजरअंदाज कर दिया जाता हो, पर इनसे जो कटुता-विद्वेष का वाइब्रेशन बनता है, उसका प्रभाव दीर्घकालिक होता है।

भाजपा की जीत से उसका आंतरिक सत्ता समीकरण बदला है और आगे भी बदलेगा। लाल कृष्ण आडवाणी-मुरली मनोहर जोशी की वरिष्ठता अब प्रस्तावक-अनुमोदक और समापक की औपचारिकता निभाने तक रह गई है। चुनाव अभियान से लेकर मंत्रिमंडल के गठन सहित अधिकांश निर्णयों में इनकी भूमिका नगण्य रही है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भाजपा पर पकड़ मजबूत हुई है और भविष्य में और-अधिक होने की संभावना बनती दिख रही है।

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने अपने चुनावी भाषणों में आने वाले दस साल गरीबों, पिछड़ों, दलितों व वंचितों के लिए बताए थे। दस में से आधे पाँच साल के लिए उनकी सत्ता 'निश्चित' हो गई है। भाजपा को अपने दम पर पूर्ण बहुमत से कार्य करने का मौका मिला है और उसके तेजतर्रार नेताओं ने सरकारी कामकाज संभाल लिया है। सहयोगी दलों का संख्या-बल व अनुभव अतिरिक्त शक्ति के तौर पर उपलब्ध है, इसलिए अब कोई बहाना नहीं चलेगा, काम करके दिखाना होगा। निस्संदेह, यह जल्दी में नहीं होगा, पर कवि का कहना है कि 'धीरे-धीरे कुछ नहीं होता, सिर्फ मौत होती है', अर्थात् धीरे-धीरे कभी सब कुछ ठीक नहीं होता। जितनी मात्रा में ठीक होगा, उससे कई गुना अधिक मात्रा में खराब भी होगा, परंतु ठीक हो जाना तो अचानक भी जरूरी नहीं और मौत एकाएक भी होती है। आकस्मिक बुरा तो होता ही है। जिन्हें सुकार्य नहीं करना होता, वे धीरे-धीरे हो जाने का भरोसा दिलाते हैं, पर इस दिलासे में जो करना है, वही गुम हो जाता है। व्यक्ति हितों को अपहृत करके भविष्योन्मुख सपनों की मृग-मरीचिका में तात्कालिक हितों से वंचित करने का खेल चतुर सुजानों की राजनीति में चलते रहता है। वस्तुत: यह तात्कालिकता को खराब कर भविष्य को भी बर्बाद करने की ताकत अपनी मुट्ठी में रखने का दर्शन है। धीरे-धीरे बद बदतर होते जाता है कई बार कथित 'विकास' के रास्ते पर भी। एकाएक लॉटरी मिलती है, लड़ाई होती है, अपराध होते हैं, मौत भी होती है। जो लोग धीरे-धीरे अच्छा हो जाने की उम्मीद स्वयं पालते हैं, दूसरों में जगाते हैं, वे भी जादू की छड़ी में विश्वास करते हैं। जादू की छड़ी मिल जाए तो पल भर में सब ठीक कर देंगे। यदि कभी जादू की छड़ी सच में मिल जाए, तब भी क्या सुधारना है, कैसा बनाना है, यह प्राय: नहीं जानते, फिर क्या बनाएँगे? यदि जानते तो जादू की छड़ी नहीं खोजते। इसलिए सवाल धीरे-धीरे के समतुल्य जल्दी-जल्दी का नहीं है, वरन् समयवार कार्य-निष्पादन का है, अन्यथा थोड़ी-सी सौदेबाजी, धूर्तता की राजनीति और चूक बहुत भारी पड़ सकती है। तुलसीदास ने लिखा है कि आवश्यकता के समय यदि कौड़ी देने में चूक जाया जाए तो फिर बिना मौके के लाखों रुपये देने से क्या लाभ? दूज के चाँद को न देखा जाए तो पक्ष भर देखने से क्या फायदा?

अवसर कौड़ी जो चुकै बहुरि दिए का लाख।
दुहूज चंदा न देखिए उदौ कहा भरि पाख।।

मेले में भीड़

बिना भीड़ के मेला कैसा? भीड़ से मेला और मेले से भीड़ होती है। यद्यपि सब जगह भीड़ मेला नहीं होती। फिर भी भीड़ मेले के लिए अच्छी व अनिवार्य शर्त है, इसीलिए बहुत लोग मेले में भीड़ का स्वाद लेने ही जाते हैं, अपना दाव निकालने के लिए तत्पर रहते हैं और बहुत बार निकाल भी लेते हैं। 'भीड़' शब्द के लिए कई पर्याय हैं, पर कोई भीड़ के मानिंद नहीं टिकता। वैसे कोई भी भीड़ निरुद्धेश्य तो नहीं होती, परंतु कभी एकत्र भीड़ का एक उद्देश्य होता है, तो कभी एक जगह इकट्ठी भीड़ का अलग-अलग उद्देश्य। मेले में पहुँचा जनसमूह मेला घूमने के लिए जुटता है, लेकिन इसमें शामिल लोगों के अपने-अपने मतलब होते हैं। स्थूल रूप में जन सैलाब ताकत की निशानी है, वहीं सूक्ष्म रूप में जन-मन-बुद्धि के भेड़िएकरण की। लेकिन यही भीड़ जब पुस्तक मेले में होती है तो सुखद आश्चर्य होता है। कुछ भी हो, वहाँ उपस्थित भीड़ छँटी हुई ही होती है। हालाँकि पुस्तक मेलों का कलेवर अब काफी-कुछ बदल गया है और अति आधुनिक बनते जा रहे शहरी-महानगरीय उच्च व मध्य वर्ग की तरह प्रकाशक, लेखक, पत्रकार व पाठक भी आधुनिक हो रहे हैं। कई तो बिना आधुनिकता के ही आधुनिक बने हैं। कुछ लोग वहाँ छुट्टियाँ बिताने, स्वच्छ मनोरंजन करने और अन्ना आंदोलन में शौकिया सहभागिता की तरह पिकनिक मनाते भी नजर आते हैं। फिर भी पुस्तक मेले का जनसमूह अन्य किसी भी भीड़-भड़क्का, धक्कम-धक्का से अलहदा होता है। धार्मिक आयोजनों, सत्संगों-प्रवचनों से भी भिन्न होता है, क्योंकि यहाँ धर्म करने या न करने का डर भाव नहीं होता। यहाँ अपेक्षाकृत स्वस्थ मानस की सुघड़ चाह व मनोरंजन का पर्यटन होता है, जहाँ कुछ न भी खरीदा जाए, तब भी केवल घूमने से जानकारी अद्यतन हो जाती है। नगरों-महानगरों की तीव्रतम-व्यस्ततम जिंदगी के बीच पुस्तक मेले में बढ़ रही भीड़ 'भीड़' की नई सार्थकता तलाश सकती है!